SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

लोक संस्कृति के समक्ष वर्तमान चुनौतियाँ

राजकुमार टंडन, व्याख्याता,
शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, तोयनर,
विकासखंड – बीजापुर, जिला बीजापुर, छत्तीसगढ़, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
राजकुमार टंडन, व्याख्याता,
शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, तोयनर,
विकासखंड – बीजापुर, जिला बीजापुर,
छत्तीसगढ़, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 28/09/2020
Revised on : -----
Accepted on : 06/10/2020
Plagiarism : 01% on 29/09/2020

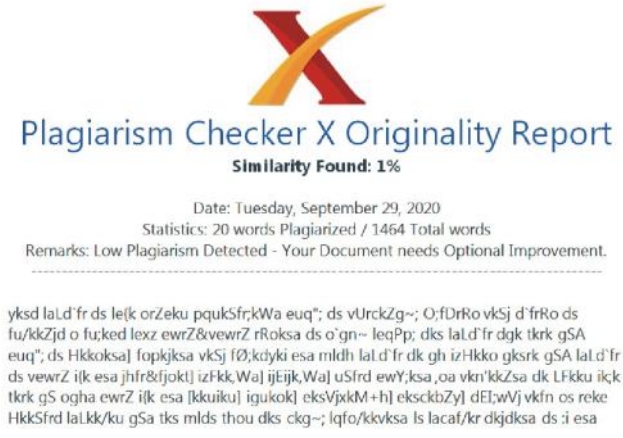
Plagiarism Checker X Originality Report
Similarity Found: 1%

Date: Tuesday, September 29, 2020
Statistics: 20 words Plagiarized / 1464 Total words
Remarks: Low Plagiarism Detected - Your Document needs Optional Improvement.

yksd laLd`fr ds le{k orZeku pqukSfr;kWa euq"; ds vUrckZg~; O;fDrRo vkSj d`frRo ds fu/kkZjd o fu;ked lexz ewrZ&vewrZ rRoksa ds o`gn~ leqPp; dks laLd`fr dgk tkrk gSA euq"; ds Hkkoksa] fopkjksa vkSj fØ;kdyki esa mldh laLd`fr dk gh izHkko gksrk gSA laLd`fr ds vewrZ i{k esa jhfr&fjokt] izFkk,Wa] ijEijk,Wa] uSfrd ewY;ksa ,oa vkn'kZsa dk LFkku ik;k tkrk gS ogha ewrZ i{k esa [kkuiku] igukok] eksVjxkM+h] eksckbZy] dEI;wVj vkfn os reke HkkSfrd laLkk/ku gSa tks mlds thou dks ckg~; lqfo/kkvksa ls lacaf/kr dkjdksa ds :i esa

शोध सार

मनुष्य के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व और कृतित्व के निर्धारक व नियामक समग्र मूर्त–अमूर्त तत्वों के वृहद् समुच्चय को संस्कृति कहा जाता है। मनुष्य के भावों, विचारों और क्रियाकलाप में उसकी संस्कृति का ही प्रभाव होता है। संस्कृति के अमूर्त पक्ष में रीति–रिवाज, प्रथाएँ, परम्पराएँ, नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का स्थान पाया जाता है वहीं मूर्त पक्ष में खानपान, पहनावा, मोटरगाड़ी, मोबाईल, कम्प्यूटर आदि वे तमाम भौतिक संसाधन हैं जो उसके जीवन को बाह्य सुविधाओं से संबंधित कारकों के रूप में प्रभावित करते हैं। इसके अंतर्गत् मनुष्य के खानपान, रहन सहन, आचार विचार, तीज त्यौहार, रोजगार, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रूढ़ियॉं, अंधविश्वास, आध्यात्मिक मान्यताएँ इत्यादि तत्व आते हैं। इन सबसे प्रभावित होकर मनुष्य का व्यक्तित्व जैसा आकार ग्रहण करता है और उसके अनुरूप वह जैसा आचरण करता है, उससे समाज का स्वरूप निर्धारित होता है।

मुख्य शब्द

नैतिक मूल्य, रीति रिवाज, संस्कृति, व्यक्तित्व।

संस्कृति की अवधारणा के संदर्भ में समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे ने लिखा है, ''संस्कृति को मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं।''[1] इन्ही समस्त आयामों में मनुष्य समाज से प्रभावित होता है और आगे निरन्तर समाज पर प्रभाव डालता है। डॉ. नगेन्द्र का विचार है कि ''संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहॉं उसके प्राकृत राग–द्वेषों का परिमार्जन हो जाता है।''[2] इस स्तर पर मनुष्य की एक विकासपूर्ण अवस्था का संकेत संस्कृति के सन्दर्भ में मिलता है। इसी तरह

रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि ''संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जनम लेते हैं।''[3] इन कथनों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति मनुष्य द्वारा सीखे हुए व्यवहारों का वह रूप है जिसके आधार पर वह जीवन पर्यन्त समाज में आचरण करता है। इस रूप में देखें तो संस्कृति के दो रूप होते हैं एक शिक्षित वर्ग की संस्कृति और दूसरी आम जनमानस की संस्कृति जिसे लोक संस्कृति कहा जाता है।

लोक संस्कृति सदियों से समाज के विभिन्न हिस्सों में आंचलिक वैशिष्ट्य के साथ सतत् प्रवाहमान होती है। इसके अंतर्गत मनुष्य अत्यंत सहज, सरल और स्वाभाविक जीवन जीता है। भाषा सहज ही अपने परिवेश के अनुरूप चलती है। जल, जंगल, जमीन पर आधारित प्रकृति का साहचर्यमय रोजगार पाया जाता है। मनुष्य के जीवन को आगे बढ़ाने में सहयोगी मवेशियों, पेड़ों आदि की पूजा कर कृतज्ञता प्रकट करना और उसे एक उत्सव के रूप में मनाये जाने की प्रवृत्ति विभिन्न त्यौहारों के रूप में अभिव्यक्त होती है। मनोरंजन के आधार व माध्यम भी प्रकृति केन्द्रित होते हैं। छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य पर दृष्टिपात करें तो इसके विविध पहलुओं को खान पान, पहनावा, तीज त्यौहार, मनोरंजन, शिक्षा, साहित्य, संगीत, शिल्प, आजीविका, शादी व्याह, रोजगार, धार्मिक गतिविधियॉ आदि विभिन्न आधारों पर रेखांकित किया जा सकता है।

रोजगार एक अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा है जिस पर जीवनयापन निर्भर करता है। धान, गन्ना, दलहन, तिलहन, सब्जी आदि पर खेती किसानी, तेन्दू पत्ता, बीज, महुआ, साल, चिरौंजी, लाख आदि वनोपजों पर मध्यवर्ती मैदान भूभाग से लेकर उत्तर दक्षिण के सुदूर वनांचलों में रोजगार का केन्द्रित होना यहॉ के जन जीवन का जीवनाधार हैं। किन्तु आज के आधुनिक परिवेश में वनों की कटाई, औद्योगिक केन्द्रों की लगातार स्थापना, खनिजों के दोहन हेतु मूल निवासियों का विस्थापन प्रमुख समस्याओं के रूप में लोगों के जीवन को कष्टप्रद बनाता चला जा रहा है।

छत्तीसगढ़ की लोकसंस्कृति जिन माध्यमों में प्रमुखता से अभिव्यक्त होती है वह है यहॉ का लोक साहित्य जो गीत, गाथा, कथा, नाट्य एवं लोकोक्ति, हाना जैसी विधाओं पर आधारित है। सुआ, ददरिया, भोजली, सोहर, भड़ौनी, बॉसगीत जैसे सैकड़ों गीत यहॉ की सांस्कृतिक धरोहर हैं। गाथाओं में पंडवानी, भरथरी, ढोला मारू, अहिमन रानी, केवला रानी आदि प्रमुखता से प्रचलित हैं। नृत्य विधा में सुआ, डंडा, कर्मा, राउत नाच, पंथी आदि प्रसिद्ध नृत्य हैं जो पूरे सांगीतिक वातारण में वाद्य एवं गायन के साथ प्रस्तुत होते हैं। निरंजन महावर ने लिखा है, ''देवार जाति के लोग पंडवानी, करमसैनी, गोंडवानी, राजा वीरसिंह, गोपालराय बिंझिया का पॅवाड़ा, बीरमगीत, दसमत ओड़निन, नगमत कइनी आदि गाथाएॅ गाते हैं ..... बसदेवा जाति के गायक वैष्णव गाथाएॅ एवं भजन गाते हैं, जिनमें राजा गोपीचंद, भरथरी, भक्त ध्रुव, प्रहलाद, श्रवण कुमार आदि गाथाएॅ प्रमुख हैं..... करमा नृत्यों का राजा है। करमा कर्म के महत्व को प्रतिष्ठित करने वाला उत्सव है।''[4] इन तमाम उत्सव पर्वों को पूर्वजों ने यहॉ की संस्कृति के पोर–पोर में पिरोया है और जीवन को सरस बनाने में पूरी कला और क्षमता झोंकी है।

उल्लेखनीय है कि इन सब में उत्सव और सामाजिकता दोनों उद्देश्य एक साथ पूरे होते हैं समाज में एकरूपता की स्थापना होती है। और सामूहिकता लोक जीवन और संस्कृति में रीढ़ की हड्डी है। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए देवेन्द्र आर्य लिखते हैं, ''लोक के मूल में सामूहिकता होती है, जबकि नागर के मूल में वैयक्तिकता''[5] अपने एक शोधपरक लेख में इसी तरह के विचार व्यक्त करते हुए शीतेन्द्र नाथ चौधुरी ने लिखा है, ''लोकसंस्कृति के भीतर झॉककर देखते हैं तो दो बातें एक ही दिखलाई पड़ती हैं, वह है प्रकृति तत्व और सामूहिकता''[6] इन दोनों कथनों के आलोक में लोक संस्कृति के वैशिष्ट्य को देखा जाए तो दो बातें स्पष्ट हैं, प्रकृति आधारित जीवन और सामाजिकता की भावना। किन्तु विडम्बना यह कि आज के दौर में आधुनिकता, वैश्वीकरण, बाजारीकरण, भूमण्डलीकरण की आंच इन अत्यंत सहज, स्वाभाविक जीवन शैली के मध्य भी पहुॅचने लगी है जिससे लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति तप्त होने लगी है। लोक गीतों के स्थान पर फिल्मी गाने, लोकनृत्य के स्थान पर पाश्चात्य साँचे में ढले नृत्यों ने अपनी जड़ें जमा ली हैं।

वर्तमान दौर में लोक कलाओं के इस्तेमाल पर भी नज़र फेरें तो बड़ी ही दुखद स्थिति दिखाई पड़ती है। लोक गीत, नृत्य विभिन्न अवसरों पर स्वाभाविक रूप में लोगों के द्वारा अपने मूल गुणधर्म के साथ स्वस्फूर्त उद्भासित होते

हैं किन्तु वर्तमान सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में अब उनके मूल स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन हो रहा है। वर्तमान परिवेश में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के कारण नई पीढ़ी के लोगों में इन सांस्कृतिक तत्वों का सहज हस्तांतरण नहीं हो पा रहा है और यदि वे सीख भी रहे हैं तो प्रतियोगिताओं में भागीदारी के लिए अपने स्कूल, कॉलेजों में। लोक संस्कृति के क्षरण के लिए इससे बड़ा कारण और क्या हो सकता है कि जो कुछ हमारे पूर्वज बोलना और चलना सीखने के दिनों में ही अपने माता पिता, दादा दादी, आस पड़ोस से स्वाभाविक ढंग से सीखते आए उन तत्वों को अब पाठ्यक्रम के किसी विषय की तरह प्रशिक्षकों के माध्यम से सीखना पड़ रहा है और होते–होते ये हो गया है कि लोक संस्कृति के विभिन्न तत्वों पर महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में उनके मूल स्वरूप, वैभव और उपयोगिता आदि पक्षों पर शोध कार्य किए जाने की आवश्यकता पड़ रही है और एक शोधपरक प्रक्रिया से गुजारते–गुजारते उसमें भी कलात्मकता का मुलम्मा चढ़ाया जाने लगा है।

बॉटी, भौंरा, गिल्ली डंडा, फुगड़ी आदि परम्परागत खेल लुप्त होने लगे हैं। क्रिकेट, गोला फेंक, तवा फेंक, रेस यही सब चलने लगे हैं। खेती किसानी, मवेशियों की सेवा, बनोपजों की तरफ से नई पीढ़ी हटने लगी है और उद्योगों की तरफ भटकने लगी है। मालिक बनना कोई नहीं चाहता, जैसी भी हो नौकरी सबको भाने लगी है। माता पिता, घर परिवार से दूरियॉ और जगह जगह सूट बूट वाले मालिकों की ओर नजदीकियॉ बढ़ने लगी हैं। दूध–दही, ठेठरी खुरमी, चीला चौसेला की जगह तरूण हाथों में भी शराब, सिगरेट दिखने लगी है। पहले तो लोग कुछ गलतियॉ देख डॉट देते थे पड़ोसियों के बच्चों को भी अब भाई भतीजे को भी छोड़ केवल अपने ही तक यह हदबंदी सिमटने लगी है।

लोक संस्कृति में आ रहे विकृत परिवर्तन के लिए कुछ तथाकथित कलाकारों की भी बड़ी भूमिका है। गीत संगीत के क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रयोग होने लगे हैं कि सुनने वाले को संकोच हो जाता है। ऐसे–ऐसे द्विअर्थी, बहुअर्थी स्पष्टता लिए हुए सांकेतिक शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है कि अभद्रता की सारी सीमा लांघकर गरिमा और भावोद्रेकता का मजाक सा उड़ाया जाने लगता है।

निष्कर्ष

आज आवश्यकता इस बात की है कि लोक जीवन का आधार और समग्र जीवन व जगत की सुव्यवस्था में अहं भूमिका निभाने में सहायक लोक संस्कृति के विभिन्न उपादानों का संरक्षण–संवर्द्धन करना अपना पुनीत कर्तव्य समझा जाए। साहित्य, संगीत, अभिनय, चित्र, वास्तु आदि विभिन्न कला विधाओं से जड़े कलावन्तों के द्वारा अपनी कला, रचनाओं व प्रस्तुतियों में इसकी महत्ता का ध्यान रखा जाना सुनिश्चित किया जाय जिससे जनजीवन में सहजता, सरलता, सरसता और भव्यता बनी रहे। गॉवों, शहरों हर क्षेत्र के वरिष्ठजनों को स्वस्फूर्त नई पीढ़ी की हितकामना के साथ इस ओर ध्यान देना चाहिए, और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि शासन को भी ज्यादा से ज्यादा अपनी लोककलाओं के संरक्षण–संवर्द्धन के लिए नीतियॉ बनाकर कार्यवाहियॉ करनी चाहिए। यह वह महत्वपूर्ण राह है जिस पर चलकर आने वाली पीढ़ियों के मध्य पैदा हो रहे अंतराल की समस्या मिट सकेगी, पूर्वजों का यथोचित सम्मान बना रह पायेगा। भौतिकता को साध्य सा बना बैठे लोगों के जीवन में, वास्तव में जीवन का महत्व स्थापित हो सकेगा। प्रकृति का साहचर्य बढ़ेगा और सामूहिकता की भावना विकसित हो सकेगी।

सन्दर्भ सूची

1. दुबे, श्यामाचरण : *मानव और संस्कृति*, पृ. 193।
2. नगेन्द्र : *साकेत–एक अध्ययन*, पृ. 100।
3. सिंह, रामधारी ''दिनकर'' : *संस्कृति के चार अध्याय*, पृ. 86।
4. महावर, निरंजन, (2008) : *चौमासा, (जुलाई–अक्टूबर 2008)*, छत्तीसगढ़ के लोकगीत पृ. 150।
5. आर्य, देवेन्द्र : *लोक साहित्य एवं संस्कृति*, मड़ई 2014, पृ. 46।
6. चौधुरी, शीतेन्द्र नाथ : *लोक संस्कृति और बंगाल का मेयेलीव्रत*, मड़ई 2010, पृ. 148।

****